7

विकास और पर्यावरण

[DEVELOPMENT AND ENVIRONMENT]

पर्यावरण दो शब्दों 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है जिनका शाब्दिक अर्थ 'परि' = चारों ओर 'आवरण' = घेरा है अर्थात् हमें चारों ओर से घेरने वाला पर्यावरण है। **लुई थॉमस** ने अपनी पुस्तक *The Lives of a Cell* में धरती को एक जीवन्त सेल कहा है और उसके चारों ओर के वातावरण की उसकी रक्षा का एक परदा बताया है। यह रक्षा-कवच पर्यावरण है जो धरती की सतह के ऊपर हवा को रोक रखने में सहायता करता है। **पर्यावरणीय ज्ञानकोष** (1975) के अनुसार पर्यावरण उन सब परिस्थितियों और प्रभावों का कुल योग है जो जीवधारियों के जीवन और विकास को प्रभावित करते हैं। साधारण शब्दों में, जीवित प्राणियों के अस्तित्व, जीवन और पुनरुत्पादन को प्रभावित करने वाले सभी तत्व और कारक पर्यावरण कहलाते हैं। प्रकृति एक निश्चित नियमबद्धता से कार्य करती है। यदि उसके किसी अवयव या क्रिया के साथ छेड़खानी की जाये तो उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रयोग से बढ़ायी गयी मानव की उत्पादन-क्षमता ने पर्यावरण के प्रदूषण का संकट उत्पन्न किया है।[1] पर्यावरण के विविध अंगों जल, स्थल, आकाश, वायु आदि में ऐसा परिवर्तन जो कि उपर्युक्त तत्वों के भौतिक, रासायनिक, जैविक गुणों में हानिकारक परिवर्तन कर दे, प्रदूषण कहा जाता है।

वर्तमान समय में हमारी प्रमुख समस्या प्रदूषण है। विश्व में औद्योगीकरण और तकनीकी विकास के फलस्वरूप पर्यावरणीय प्रदूषण इतना बढ़ चुका है कि प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ता जा रहा है। विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग की रिपोर्ट के अनुसार जीवाश्मिक ईंधन के दहन से वायुमण्डल में कार्वन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ रही है जो विश्व के तापमान को धीरे-धीरे बढ़ा रही है। आगामी शताब्दी के आरम्भ में यह 'ग्रीन हाउस प्रभाव' विश्व के औसत तापमान को इतना बढ़ा सकता है कि हमें कृषि उत्पादन के क्षेत्र बदलने पड़ सकते हैं, समुद्री जल-स्तर बढ़कर तटीय नगरों में बाढ़ ला सकते हैं तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था चरमरा सकती है। आयोग ने इन्हें विकास की असफलताएँ और मानवीय पर्यावरण के व्यवस्थापन की कमियाँ कहा है। यह समस्या विकसित और विकासशील दोनों देशों के समक्ष है यद्यपि उसका स्तर और स्वरूप भिन्न हो सकता है। अतः विश्व के समस्त देशों में जनसाधारण अब पर्यावरण के प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों के तीव्र विनाश के प्रति चिन्तित हो गये हैं और पर्यावरण-संरक्षण के लिए जन-आन्दोलन विश्व स्तर पर देखे जा सकते हैं। आज प्रत्येक राष्ट्र में पर्यावरण के प्रति जागरूकता विकसित हुई और पर्यावरणीय नीतियों का निर्माण किया गया है।

---

1. United Nations : *Development & Environment,* 1972, pp. 7-8.

भारत में पर्यावरण समस्या (Problem of Indian Environment)

अन्य देशों की भाँति, भारत भी पर्यावरण से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना कर रहा है जिससे लोगों का सामान्य जीवन प्रभावित हो रहा है। विकसित देशों की पर्यावरण समस्या उनके संसाधन के दुरुपयोग जीवन-शैली की देन है अर्थात् विकास की प्रक्रिया का ही दुष्परिणाम है, जबकि हमारी समस्या बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संसाधनों पर बढ़ते दबाव का परिणाम है। भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या न केवल पर्यावरण के लिए एक गम्भीर चुनौती है अपितु मानव के अस्तित्व के लिए खतरा भी है। भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या और विभिन्न विकास योजनाओं ने पर्यावरण का संकट उत्पन्न किया है। चरागाह नष्ट हो रहे हैं, जिससे चारा जुटाने का भार जंगलों और फिर खेती की जमीन पर आ गया है। इसके कारण पशुपालक उजड़ रहे हैं। एक तरफ भूखे पशु और उनकी बिगड़ती जा रही नस्लें हैं और दूसरी तरफ पशुपालकों और किसानों में तनावपूर्ण सम्बन्ध बनते जा रहे हैं। एक ओर देश में चारे और जलाऊ लकड़ी का संकट बढ़ता जा रहा है तो दूसरी ओर सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों में सफेदा जैसे पेड़ बड़े पैमाने पर उगाये जा रहे हैं जो न जलाये जा सकते हैं और न पशुओं को लिखाये जा सकते हैं। वे धरती की नमी सोखकर उपजाऊ भूमि को और बंजर बना रहे हैं।

हरित क्रान्ति के अन्तर्गत की गयी सघन पैदावार के कारण भूमि के महत्वपूर्ण पौष्टिक तत्व जस्ता, लोहा, ताँबा, मैंगनीज, मैग्नीशियम, बोरोन आदि कम हो रहे हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब का लुधियाना जिला सबसे ज्यादा पैदावर के लिए प्रसिद्ध हुआ परन्तु वहीं इन पोषक तत्वों की बेहद कमी पायी जा रही है। इन महत्वपूर्ण तत्वों के अभाव में खाद्यान्न का गुण भी घटता है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्यों और मवेशियों का स्वास्थ्य और विकास प्रभावित होते हैं।

आधुनिक तकनीक ने मनुष्य को खनिज द्रव्यों को खोदकर निकालने की अपार शक्ति दी है परन्तु साथ ही जीवन के लिए खतरा भी बढ़ा दिया है। खनिज द्रव्यों के लिए किये जा रहे खनन कार्यों में सावधानी न बरते जाने पर हर एक खान पास की जमीन को बंजर बना सकती है, पानी को जहरीला कर सकती है, जंगलों का सफाया कर सकती है, हवा को गन्दा कर सकती है और इसके आसपास रहने वाले और उसमें काम करने वाले लोगों का जीवन दूभर कर सकती है। वास्तव में ऐसा हो भी रहा है। उदाहरणार्थ भारतीय प्रबन्ध संस्थान बैंगलूर के प्रो. जे **बन्दोपाध्याय** के द्वारा तैयार एक रिपोर्ट के अनुसार, "खदानों का सबसे बुरा असर यहाँ के जल संसाधनों पर तथा प्राकृतिक वातावरण पर हुआ है।"[1] यहीं पर पर्यावरण विभाग द्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट में कहा गया है कि पिछले दो दशकों में बालदी नदी के जल-ग्रहण क्षेत्र के खेतों की पैदावार 28% तक गिरी है और इसी क्षेत्र के 18 गाँवों के जल संसाधनों में 50% की कमी आयी है।[2]

इसके अतिरिक्त औद्योगिक इकाइयों से निकलने वाले अवशिष्ट द्रव्य भूमि में गुणात्मक परिवर्तन कर देते हैं और यह अनुपयोगी हो जाती है। अत्यधिक पेड़ों की कटाई से भू-रक्षण की समस्या उत्पन्न हुई है। तेज हवा, बाढ़ व वर्षा से भूमि का कटाव रोकने में वृक्षों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, उनके अभाव में भूमि की प्राकृतिक क्षमता और उर्वरता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार भारत में पर्यावरण का संकट चारों ओर व्याप्त है। हमें देश की जनता के कल्याण के लिए पर्यावरण का संरक्षण और सुधार करना आवश्यक है। भूमि, वायु और जल जैसे प्राकृतिक

---

1. अनिल अग्रवाल और सुनीता नारायण : *हमारा पर्यावरण*, दिल्ली, गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, 1988, पृ. 27।
2. *वही*, पृ. 27।

संसाधनों का उपयोग इस प्रकार करने की आवश्यकता है जिससे भविष्य की पीढ़ियाँ स्वस्थ पर्यावरण में साँस ले सकें।

विकास और पर्यावरण का अध्ययन निम्न दो शीर्षकों में करेंगे :

1. प्रशासन का पारिस्थिति विज्ञान,
2. पर्यावरण और विकास।

(1) प्रशासन का पारिस्थिति विज्ञान
[ECOLOGY OF ADMINISTRATION]

विकासशील देशों के लिए विकास प्रशासन का विशेष महत्व है। इसका मुख्य उद्देश्य समाज में सामाजिक-आर्थिक विकास लाना है। वह एक मानवीय प्रक्रिया है जिस पर पर्यावरण का प्रभाव रहता है। वास्तव में विकास प्रशासन तथा पर्यावरण का सम्बन्ध द्विपक्षीय है क्योंकि यह पर्यावरण से प्रभावित होता है और प्रभावित भी करता है। प्रशासन के पर्यावरण से तात्पर्य उस वातावरण से है जिसमें किसी देश की प्रशासन व्यवस्था कार्य करती है। विभिन्न अध्ययनों से पता चलता है कि किसी भी विशेष देश में प्रशासनिक संगठन और उसकी प्रक्रियाएँ शून्य में जन्म नहीं लेतीं परन्तु एक विशेष समाज व्यवस्था, सांस्कृतिक परम्परा, आर्थिक प्रणाली, राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वास की पृष्ठभूमि में रूप ग्रहण करती हैं। प्रशासन एक व्यावहारिक विज्ञान है जिस पर पर्यावरण का प्रभाव रहता है। अतः विकास प्रशासन के समुचित ज्ञान के लिए उससे सम्बद्ध पर्यावरण का अध्ययन करना आवश्यक है। प्रो. रिग्स ने प्रमुख रूप से प्रशासनिक व्यवस्था तथा उसके पर्यावरण का अध्ययन किया है। रिग्स का विचार है कि हर संस्था के आसपास सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक वातावरण का अध्ययन किया जाना चाहिए जिससे जाना जा सके कि कोई विशेष प्रकार की संस्था कैसे कार्य करती है। इस प्रकार किसी देश के लोक-प्रशासन की प्रकृति जानने हेतु वहाँ के सामाजिक वातावरण का अवलोकन करना आवश्यक है उसी प्रकार विकास प्रशासन के सम्बन्ध में भी यह बात पूर्ण सत्य है क्योंकि :

1. प्रशासनिक संस्थाएँ, संगठन, कार्यक्रम, योजनाएँ एक देश में सफलतापूर्वक कार्य करती हैं, उनको दूसरे विकासशील देशों में अपनाने का प्रयास किया जाता है परन्तु सफलता हेतु उपयुक्त वातावरण आवश्यक है।
2. एक देश में वहाँ की प्रशासनिक संस्थाओं के संगठन और कार्य को सही रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि देश की सामाजिक व्यवस्था और सरकार के रूप में अध्ययन किया जावे।
3. तुलनात्मक अध्ययन में पर्यावरण का विशेष महत्व है। प्रशासन की कुछ विशेषताएँ एक विशेष वातावरण में ही उपलब्ध होती हैं। अतः तुलनात्मक दृष्टि से यह अध्ययन किया जाना चाहिए कि कौन-सा वातावरण किस संस्था के लिए उपयुक्त होता है ताकि एक देश में नवीन प्रशासनिक संस्थाओं को आरम्भ करने से पहले उपयुक्त वातावरण की व्यवस्था कर ली जाय अथवा परिवेश को देखकर ही तदनुकूल संस्थाओं का चयन किया जाये।
4. विकास प्रशासन परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन प्रत्येक देश के पर्यावरण पर निर्भर रहता है अर्थात् क्या परिवर्तन समाज द्वारा मान्य हो सकेगा या नहीं।

प्रत्येक समाज में कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ होती हैं; जैसे राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था, आदि। इनमें से राजनीतिक व्यवस्था की एक उपव्यवस्था प्रशासनिक होती

है। इन सभी व्यवस्थाओं एवं उपव्यवस्था का आपस में अन्तर्सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार विकास प्रशासन और पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्धों के भी विभिन्न प्रमुख पहलू हैं; जैसे राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, प्रशासनिक आदि। ये सभी पहलू विकास प्रशासन की संस्थाओं, संगठनों, नीतियों, योजनाओं, कार्यक्रमों आदि का स्वरूप निर्धारण करते हैं और उसके लक्ष्यों पर विविध रूपों से प्रभाव डालते हैं। इसी के साथ-साथ विकास प्रशासन की प्रक्रियाओं को प्रभावित भी करते हैं। यहाँ हम संक्षेप में विकास प्रशासन के कुछ प्रमुख पहलुओं का अध्ययन करेंगे जिससे विकास प्रशासन का पर्यावरण समझ सकें।

प्रशासन का सांस्कृतिक पर्यावरण (Cultural Environment)

'संस्कृति' शब्द की उचित व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि संस्कृति का अर्थ किसी समुदाय की जीवनशैली है जिसमें उस समुदाय के रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, जीवनशैली पर विशेष प्रभाव पड़ता है। एक समाज की संस्कृति अपने नागरिकों को अनेक आदर्शात्मक मूल्य प्रदान करती है। इन मूल्यों से लोक-प्रशासन का संगठन एवं व्यवहार भी अछूता नहीं रहता है। प्रशासन के संगठन में विभिन्न कर्मचारियों के आपसी सम्बन्ध, उच्च अधिकारियों के प्रति निम्न पदाधिकारियों का दृष्टिकोण आदि पर समाज विशेष की संस्कृति और मूल्यों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक-दूसरे को सम्मान देना, आतिथ्य-सत्कार करना, शिष्ट भाषा में विरोध करना तथा किसी भी कार्य के प्रति सहयोग, सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण अपनाना वस्तुतः संस्कार और संस्कृति की ही अमूल्य देन होती है। संस्कार, संस्कृति और मान्यताओं को ध्यान में रखकर ही प्रशासनिक एवं संवैधानिक कानूनों का निर्माण किया जाता है। यही कारण है कि एक देश की प्रशासनिक व्यवस्था तथा कानून दूसरे देश की प्रशासनिक व्यवस्था तथा कानून से भिन्न और विपरीत होता है। जी. ई. ग्लैडन ने अपनी पुस्तक *Dynamics of Public Administration* में लोक-प्रशासन और सांस्कृतिक परिवेश के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "यदि प्रशासनिक संस्कृति रूपान्तरण के कारण हुई प्रगति से सामंजस्य स्थापित नहीं करती, तो सामाजिक असन्तोष और हिंसा से सामाजिक ढाँचा अन्ततः ध्वस्त हो जायेगा। सामाजिक संस्कृति की अनुकूल क्षमता ही प्रशासन में लोक-सामंजस्य और व्यवस्था बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाती है।"[1]

भारतीय संस्कृति की धारा कभी-कभी और कहीं-कहीं अवरुद्ध तो हुई किन्तु समय-समय पर भारतीय महापुरुषों ने उसे एकता के सूत्र में पिरो दिया। साथ ही आधुनिक स्वरूप प्रदान करके उसे शाश्वत बना दिया। यहाँ हम भारतीय संस्कृति के कुछ विशिष्ट तत्वों पर प्रकाश डालेंगे।

1. **मानव-जीवन में धर्म का स्थान**—'धर्म' शब्द स्वजातिक है और इसका अनुवाद मजहब या रिलीजन नहीं हो सकता। धर्म का अर्थ कर्तव्यों का पालन करना है। "समग्र सृष्टि को अच्छी प्रकार से धारण एवं परिपालन करने वाले तत्वों की समष्टि को ही 'धर्म' कहते हैं। अर्थात् वे तत्व, जिनके रहने से यह समाज रहता है, और जिनके न रहने पर यह समाज विच्छृंखल होकर नष्ट हो जाता है, धर्म के अन्तर्गत आते हैं; जैसे—धैर्य, क्षमा, उदारता, सन्तोष, ईमानदारी, पवित्रता, ज्ञान, सत्य, प्रेम, दया, अहिंसा, समता, परोपकार, सहयोग तथा अपनी ही भाँति दूसरों की चिन्ता करना आदि। श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की समष्टि को ही भारतीय शास्त्रों में धर्म कहा गया है।"[2] इन

1. Gladon, G. E. : *Dynamics of Public Administration*, Reinhert, New York, 1971, pp. 290-91.
2. द्विवेदी, शिवनरायन : *भारतीय धर्म और राजनीतिक सम्प्रदाय*, दैनिक भास्कर, ग्वालियर, 28 अगस्त 1993, पृ. 4।

तत्वों को धारण करने वाले व्यक्ति आध्यात्मिक शान्ति को प्राप्त कर समाज को व्यवस्थित एवं गतिमान बनाने में सहयोगी बनते हैं। इसीलिए हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है—"धरणाद धर्म इष्युक्तः धर्मो धारयति प्रजाः" अर्थात् अपनी धारण-क्षमता के कारण ही धर्म को 'धर्म' कहा गया है, क्योंकि यह समाज को धारण किये रहता है, नष्ट नहीं होने देता। चूँकि आज की सत्ता धर्म के बिना सम्भव नहीं है, अतः धर्म के तत्वों की रक्षा में सक्रिय होना समाज के प्रत्येक विचारशील नागरिक का पवित्र कर्तव्य बन जाता है। इसीलिए कहा गया है कि "धर्मो रक्षति रक्षितः"।

ऊपर धर्म के जिन तत्वों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें उदात्त जीवन-मूल्य, नैतिक-मूल्य अथवा श्रेष्ठ जीवन-पद्धति के तत्व भी कहा जा सकता है। इन्हें कर्तव्य भी कहा जा सकता है, और मानवीय सद्‌गुण भी। ये तत्व दुनिया में सर्वत्र और सभी के लिए कल्याणकारी होते हैं। इसी से ऋषियों ने इन तत्वों की समष्टि को "धर्म", "सामान्य धर्म" अथवा "मानव धर्म" भी कहा है। ये समस्त मानव मात्र के लिए हितकारी होते हैं। इनकी हितकारिता को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, कोई भी नकार नहीं सकता। अतः भारत के इस धर्म को सार्वकालिक तथा सार्वभौम कहा जाता है। कुछ लोग इसे "सनातन धर्म" तथा "आर्य धर्म" भी कहते हैं। आजकल "हिन्दू धर्म" से इसी का बोध होता है। संक्षेप में, हिन्दू शास्त्र इस सामान्य धर्म का पालन सबके लिए आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य मानता है।

2. **सम्प्रदाय**—धर्म को जीवन और आचरण में पूर्णतः उतार लेने के लिए और व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए भारत में विभिन्न दर्शनों और सम्प्रदायों का विकास हुआ है। भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें अद्वैत, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध तथा सिक्ख आदि प्रमुख हैं। इन विभिन्न सम्प्रदायों की उपासना-पद्धतियों एवं विचारधाराओं में भेद भले ही रहे हों, परन्तु लक्ष्य सभी का परम सत्य और धर्म ही है। ये परस्पर एक-दूसरे का आदर करते हैं, न कि अनादर। इन सभी ने अपने अनुयायियों के आचरण को सुधारने-सँवारने का ही कार्य किया है। इस प्रकार भारतीय हिन्दू समाज में स्थापित सम्प्रदाय विश्व के अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा एक विशेष स्थान रखते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि सम्प्रदाय की तुलना में धर्म का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। जहाँ तक दोनों के सम्बन्ध का प्रश्न है, वहाँ यह साध्य-साधन सम्बन्ध ही है। धर्म साध्य है और सम्प्रदाय उसकी प्राप्ति का साधन। सभी सम्प्रदाय यही प्रयास करते आये हैं। अतः भारत में धर्म ही सभी सम्प्रदायों का साध्य और साधन है।[1]

3. **सहिष्णुता अथवा धर्म-सद्‌भाव**—हिन्दू समाज अनेकता में एकता पर विश्वास करता है। भारतीय संस्कृति किसी दूसरे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करती है। हमारे इतिहास में ऐसे विभिन्न उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें हमारे मनीषियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सत्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं। वस्तुतः किसी भी धर्म का पालन करने से सत्य की प्राप्ति हो सकती है।

भारत में विविधताओं के बावजूद भारतीय संस्कृति विभिन्न संस्कृतियों का समन्वित रूप है। हिन्दू संस्कृति की पाचन-शक्ति बड़ी ही प्रचण्ड मानी गयी है और इसका यह विशेष गुण रहा है कि यह प्रत्येक धर्म व संस्कृति को अपने आप में मिलाकर आत्मसात कर लेती है।

4. **वसुधैव कुटुम्बकम**—हमारे पूर्वजों का दृष्टिकोण सदैव अन्तर्राष्ट्रीय रहा है। संसार एक है तथा मानव एक ही ईश्वर की सन्तान हैं, यह संकल्पना सदैव उपस्थित रही है। इसी कारण हमारी संस्कृति का दृष्टिकोण हमेशा व्यापक रहा है। हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को पीकर अपनी ताकत बढ़ायी है, यहाँ तक कि इस्लाम जो अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रखने का

---

1. दुबे : *वही*, पृ. 117।

मंसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। यद्यपि भारतीय मुसलमान धर्म के विषय में अपनी सत्ता को स्वतन्त्र रखने में काफी हद तक कामयाब हुए लेकिन संस्कृति की दृष्टि से वे भी अब भारतीय हैं। संक्षेप में, हमारी संस्कृति भारत की राष्ट्रीय एकता को जन्म देती है। यही सांस्कृतिक एकता हमें एकता के सूत्र में बाँधे हुए है।

प्रशासन का सामाजिक पर्यावरण (Social Environment)

एफ. डब्ल्यू. रिग्स ने अपनी पुस्तक *Ecology of Public Administration* में कहा है कि किसी समुदाय का सामाजिक परिवेश उसके संस्थानों, संस्थागत नमूनों, वर्ग, जाति- सम्बन्धों, ऐतिहासिक वसीयत, परम्पराओं, धर्म, मूल्यों की व्यवस्था, विश्वास, आदर्श आदि पर आधारित होता है। ये समस्त तत्व प्रशासन पर बड़ा गहरा प्रभाव डालते हैं। लोक-प्रशासन में मानवीय तत्व का विशेष प्रभाव होता है, इसलिए लोक-प्रशासन का मानवीय तत्व समाज विशेष की उपज होता है। विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएँ और संस्थाएँ लोक-कर्मचारियों के चरित्र की रचना करती हैं। भारत में आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि आधारों पर अनेक वर्ग बन जाते हैं। समाज के इन वर्गों को पहचानना तथा उनमें जो वर्ग या जाति पिछड़ी और कमजोर हैं उसे विशेष सुविधा देकर ऊपर उठाना प्रशासन का महत्वपूर्ण दायित्व बन जाता है। प्रशासन को केवल कानूनी न्याय के आधार पर ही नहीं चलाया जा सकता, बल्कि प्रशासन के संचालन के लिए आज सामाजिक न्याय अधिक आवश्यक बन गया है। इसके साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं का लोक-प्रशासन की नौकरशाही से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। सामाजिक संस्थाओं का प्रशासन पर निरन्तर दबाव रहता है। इस सामाजिक दबाव के कारण लोक-प्रशासन सतर्क एवं उत्तरदायी बना रहता है। दूसरी ओर, सामाजिक जागरूकता भी प्रशासनिक व्यवहार को जनोपयोगी बनाने में सहायता करती है। इससे स्पष्ट है कि प्रशासन को सामाजिक परिवेश के अनुसार संचालित करना पड़ता है। समाज प्रशासन के अनुसार नहीं बल्कि प्रशासन समाज के अनुसार संचालित होता है।

भारतीय समाज की विशेषता यह है कि वह बहुलवादी समाज है, जिसमें विविध सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जिनकी विभिन्न भाषा, जाति-धर्म, रहन-सहन व वेशभूषा की अपनी-अपनी पद्धतियाँ हैं। इस कारण यहाँ अनेक सजातियाँ पायी जाती हैं। इनकी विभिन्नताओं को एक साथ लेकर चलने के लिए हमारी सनातन संस्कृति के मुख्य आधार थे वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था। हमारी विभिन्नताओं में एकता का आभास भारतीय समाज की विशेषता रही है। यहाँ हम भारतीय समाज के कुछ विशिष्ट मुद्दों पर प्रकाश डालेंगे।

1. **जाति**—भारतीय समाज की संरचना के आधार जाति (वर्ण) और उपजाति हैं। ये भारत की आदिम और विशिष्ट समाजशास्त्रीय इकाई हैं। इसके बाद उपवर्ण (जाति) हैं। प्रत्येक भाषायी क्षेत्र में 200 से 300 तक उपवर्ण या जातियाँ हैं। इस व्यवस्था का हानिकारक पक्ष समाज में विद्यमान पिछड़ी जाति के प्रति छुआछूत का व्यवहार है। प्रारम्भ से ही भारतीय समाज जाति-प्रधान रहा है और स्वतन्त्रता के बाद समस्त राजनीतिक गतिविधियाँ, चुनाव, नियुक्तियाँ, दलों आदि में जाति का प्रभाव बढ़ा है और यह एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

भारत की राजनीतिक संरचना और प्रक्रियाएँ लोकतान्त्रिक हैं। किन्तु ग्रामीण क्षेत्र में इसका सामाजिक आधार सामन्ती, जातिवादी और साम्प्रदायिक है। इसने हमारी लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया को न केवल प्रभावित बल्कि दूषित भी किया है। **प्रो. जैन** ने लिखा है : "जनजातीय, भाषायी, धार्मिक, क्षेत्रीय और जातिगत निष्ठा भारतीय समाज की आधार-रचना की मूल विशेषता है। इसने यहाँ की राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रणाली पर गहरी छाप डाली है और

विकास की प्रक्रियाओं को भी प्रभावित किया है।"[1] भारत की जाति-प्रथा जिस रूप में उभरकर सामने आयी, उसने समाज को सामाजिक दृष्टि से ऊँचे-नीचे स्तरों में बाँट दिया, राजनीतिक दृष्टि से भ्रष्ट कर दिया और आर्थिक दृष्टि से कमजोर बना दिया। स्वाधीनता के बाद जाति-प्रथा का राजनीतिकरण प्रारम्भ हुआ। दलित वर्गों के लिए सरकार ने आरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की। 50 वर्षों के बाद आरक्षण न केवल कायम है बल्कि मण्डल आयोग की सिफारिशों के आधार पर बढ़कर अब 49.5 प्रतिशत हो गया है। आरक्षण से पिछड़ी जाति के विकास में सहायता मिली है और सामाजिक परिवर्तन भी आया है, परन्तु साथ ही इससे नये तनाव भी उत्पन्न हुए हैं। इससे विभिन्न जातियों में मनमुटाव बढ़ा है और सामाजिक उथल-पुथल एवं हिंसा को बल मिला है। इस सामाजिक ढाँचे का प्रशासन पर स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है।

2. **धर्म एवं साम्प्रदायिकता**—भारतीय समाज में धर्म और साम्प्रदायिकता का बोलबाला है। हमारे यहाँ आठ प्रमुख धार्मिक समुदाय हैं—हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी, और यहूदी। समाज में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की जड़ें बहुत गहरी हैं और इतिहास की दृष्टि से पुरानी भी। इस संघर्ष में समाज न केवल दूषित हुआ है बल्कि समाज में तनाव बढ़ा है। साम्प्रदायिक दंगों में लोगों के प्राण तो जाते ही हैं, साथ ही सम्पत्ति की भी व्यापक हानि होती है और आर्थिक गतिविधियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इन साम्प्रदायिक दंगों का प्रशासन पर भी प्रभाव पड़ता है।

3. **हिंसा**—एक अन्य प्रवृत्ति जो भारतीय समाज में देखने को मिलती है, वह है बढ़ती हुई हिंसा। भारत जैसे शान्तिप्रिय देश में अहिंसा का स्थान हिंसा ने ले लिया है। इसका सामाजिक परिवेश पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है और साथ में शासन की गतिविधि भी प्रभावित होती है। हिंसा में केवल अन्तर-जातीय, अन्तर-साम्प्रदायिक और अन्तर-भाषायी झगड़े ही सम्मिलित नहीं हैं। हिंसा में अब अलग राज्यों के गठन अथवा पुनर्गठन के विरुद्ध हिंसा पर उतारू औद्योगिक हड़तालें, किसान आन्दोलन, नक्सली हिंसा, पंजाब एवं उत्तर-पूर्वी राज्यों में आतंकवादी गतिविधियाँ आदि घटनाएँ भी शामिल हैं। भारतीय समाज बहुलवादी समाज है जिसमें जातीय विभाजन, विभिन्न धार्मिक विश्वास, हिंसा की बढ़ती हुई घटनाएँ प्रमुख चुनौतियाँ हैं। लोक-प्रशासन को इसी सामाजिक परिवेश में सामाजिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में कार्य करना है।

प्रशासन का राजनीतिक पर्यावरण (Political Environment)

प्रशासन और राजनीतिक परिवेश का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है। दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। लोक-प्रशासन की जड़ें राजनीति में निहित होती हैं। राजनीति का सम्बन्ध किसी देश के शासन से होता है और शासन का क्रियात्मक रूप प्रशासन में दिखता है। राजनीतिक परिवेश में जब बदलाव आता है तब प्रशासनिक संस्थाओं में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है किसी भी देश के लोक-प्रशासन तथा उसकी संरचनाओं पर वहाँ के राजनीतिक परिवेश का गम्भीर प्रभाव पड़ता है।

भारतीय राजनीतिक परिवेश के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में शायद ही निरंकुश शासन रहा हो। राजा राज्य का सर्वोच्च शासक अवश्य होता था किन्तु वह मन्त्रियों की राय से कार्य करता था। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार राजनीतिक समता की विचारधारा कभी नहीं पनपी। बौद्ध सम्प्रदाय के प्रभाव से कतिपय गणतन्त्र स्थापित हुए थे

---

1. जैन, आर. के.: *भारतीय समाज, अधिकारी-तन्त्र और प्रशासन,* 1989।

जिनमें वैशाली का गणतन्त्र प्रमुख रहा है किन्तु अधिकतर व्यवस्था राजतन्त्रीय थी। भारतीय परिवेश पर हम निम्नलिखित मुद्दों के अन्तर्गत चर्चा कर रहे हैं :

1. **भारत में प्रजातन्त्र का स्वरूप**—ऐतिहासिक दृष्टि से यदि विचार करें तो आधुनिक प्रजातन्त्र की कल्पना भारतीय संस्कृति से मेल नहीं खाती। आज भारतीय प्रजातन्त्र के विकास में कुछ विरोधी तत्व विद्यमान हैं। भारतीय संस्कृति में सहनशीलता की प्रमुखता के कारण, और राजा के सीमित अधिकारों के कारण, यह संस्कृति प्रजातन्त्रोन्मुख है। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि एक ओर अनपढ़ नागरिक मतदान की प्रक्रिया में रुचिपूर्वक उत्साह से हिस्सा लेता है, जबकि दूसरी ओर शिक्षित और बुद्धिजीवी वर्ग चुनाव-प्रक्रिया से तटस्थ होता जा रहा है। भारतीय समाज में समता की कमी है, वर्णाश्रम-धर्म तथा विभिन्न जातियों एवं उपजातियों के अलग-अलग अस्तित्व के कारण समता की भावना समाज में पनप ही नहीं पायी। आज का चुनाव शारीरिक क्षमता और आर्थिक क्षमता पर निर्भर हो गया है और इसी बूते पर जीता जाता है। चुनाव में अपराधी तत्व अधिक सक्रिय हो गया है और वे शक्ति व धन के द्वारा चुनाव-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। फलस्वरूप हमारे देश में प्रजातन्त्र की बात तो की जाती है, पर वास्तविक प्रजातन्त्र लागू नहीं हो पाता।

2. **शासन का प्रशासन में हस्तक्षेप**—शासन और प्रशासन एक-दूसरे के पूरक हैं और आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। साधारण नागरिक प्रशासन से ही सम्पर्क रखता है और प्रशासन की क्षमता पर ही शासन आँका जाता है। शासकीय नीतियों का निर्माण यद्यपि कठिन है किन्तु उससे भी कठिन कार्य नीतियों को लागू करना है। हमने संसदीय शासन-प्रणाली अपनायी है जिसके अन्तर्गत शासन की नीतियों के बनाने का काम तो "शासक वर्ग" करता है परन्तु उन्हें जनता तक पहुँचाने का काम "सेवीवर्ग" करता है। इन दोनों वर्गों के चयन, कार्यकाल, सेवा-शर्तें आदि भिन्न-भिन्न हैं। ब्रिटेन के शासकीय वर्ग और सेवीवर्ग एक-दूसरे के पूरक के रूप में देखे जाते हैं। दोनों में पारस्परिक सम्बन्धों पर काफी मतभेद है और इस विषय में विभिन्न मत प्रतिपादित किये गये हैं। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि "सेवीवर्ग" शासकीय वर्ग की आज्ञा मानने को बाध्य तो है परन्तु उसके मातहत नहीं है। इन्दिरा गाँधी के शासनकाल में, विशेषकर आपातकाल के समय शासन का प्रशासन में हस्तक्षेप बढ़ा और बाद के समय में बढ़ता ही गया। आज स्थिति यह है कि शासकीय वर्ग खुलेआम प्रशासन पर अपना नियन्त्रण करना चाहता है। इस सन्दर्भ में स्थानान्तरण की शक्ति के दुरुपयोग की प्रमुख भूमिका रही है। प्रशासन में शासन के बढ़ते हुए हस्तक्षेप के कारण कुशल व्यक्ति या तो शासकीय सेवा में जाना ही नहीं चाहते या सेवा से शीघ्र निवृत्ति चाहते हैं। फलस्वरूप भारतीय प्रशासन में गिरावट आती जा रही है और शासक वर्ग को इस विषय में पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है।

3. **शासकीय तथा प्रशासकीय तन्त्र में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार**—प्रशासन-तन्त्र में निम्न स्तर पर भ्रष्टाचार प्रारम्भ से ही दिखायी देता रहा है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इस ओर संकेत भी किया है। मुगल-शासनकाल में रिश्वतखोरी पायी जाती थी। ब्रिटिश-शासनकाल में इस विषय में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिला है जिसके अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति के बाद उच्च पदों पर आसीन अधिकारियों में भ्रष्टाचार की कमी रही; यद्यपि उस समय भी निम्न श्रेणी के शासकीय कर्मचारी इस रोग से अछूते नहीं थे।

स्वाधीनता के पश्चात् अखिल भारतीय सेवाओं में पुरानी प्रवृत्ति जारी रही। शासकीय वर्ग नेहरू-युग में इस प्रकार के भ्रष्टाचार से काफी दूर था, पर धीरे-धीरे भ्रष्टाचार का रोग निम्न वर्ग के कर्मचारियों से फैलकर उच्चस्तरीय कर्मचारियों तथा शासक वर्ग में भी पनपता गया।

अनेक घोटालों का इस सन्दर्भ में उल्लेख करना आवश्यक है, जैसे—कृष्ण मेनन का "जीप काण्ड", ललितनारायण मिश्र का कई भ्रष्टाचार प्रकरणों में लिप्त रहना, "बोफोर्स काण्ड" जिसके कारण राजीव गाँधी की 1989 के चुनावों में हार हुई और हर्षद मेहता द्वारा वर्तमान प्रधानमन्त्री के ऊपर दोषारोपण आदि। आज स्थिति यह है कि जब भी किसी 'विदेशी' या 'स्वदेशी' फर्म से सौदा किया जाता है तो कमीशन के तौर पर उच्च वर्ग द्वारा रिश्वत लेने की बात कही जाती है। आखिर शासक वर्ग को भी तो चुनाव खर्च के लिए करोड़ों रुपयों की आवश्यकता होती है जिसे वह चुनाव के बढ़ते खर्चे को बढ़ते हुए भ्रष्टाचार से पूरा करता है। इस प्रकार राजनीतिक परिवेश के इस वातावरण में प्रशासन को कार्य करना पड़ता है जिसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

4. **शासकीय सेवाओं में आरक्षण**—विश्व के प्रत्येक विकसित देश में यह बात सर्वथा मान्य है कि विकास के युग में योग्य और कुशल व्यक्ति ही अपने उत्तरदायित्वों का सही निर्वाह कर सकता है। भारत में भी हर युग में योग्यता को ही प्राथमिकता दी गयी है। आज भी इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता। पर इसके विपरीत, भारत में ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक रूप से कई वर्ग हजारां वर्षों से शोषित होते आये हैं। उन्हें समाज में उचित स्थान दिलाना सरकार का दायित्व है। फलस्वरूप, हमारे संविधान-निर्माताओं ने कतिपय जातियों और जनजातियों को प्रशासकीय सेवाओं तथा विधानसभाओं में आरक्षण प्रदान किया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन प्रावधानों के फलस्वरूप निम्न वर्ग कुछ ऊपर उठा है और वे जागरूक भी हुए हैं। मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने तथा शोषित एवं पिछड़े वर्गों को समता के नाम पर आरक्षण देने की आवाजें जोर पकड़ती जा रही हैं। उच्च वर्ग के गरीब लोगों को भी आरक्षण देने की बात सामने आ रही है। साथ ही महिलाओं और विकलांगों के उत्थान के लिए भी आरक्षण की आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस दिशा में अनेक आन्दोलन भी हो रहे हैं। पर इस विषय पर इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि विकास के कठिनतम कार्य का सम्पादन करने के लिए योग्यता का कोई पर्याय नहीं है। इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय ने 50% से अधिक आरक्षण को गैर-कानूनी ठहराया है। हाल ही में 8 सितम्बर, 1993 से केन्द्र सरकार की नौकरियों में 27% आरक्षण लागू हो गया है।

5. **धर्म और राजनीति का पृथक्करण**—जैसा पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, 'धर्म' शब्द भारतीय संस्कृति में अत्यन्त विस्तृत रूप में प्रयुक्त होता आया है। धर्म का सही अर्थ न समझने के कारण इसका विकृत रूप साम्प्रदायिकता ने ले लिया है। भारतीय संस्कृति में साम्प्रदायिकता का कोई स्थान नहीं है जो धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना के सर्वथा प्रतिकूल है। यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि भारत की तीनों प्रमुख संस्कृतियों (सनातन संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति तथा ईसाई संस्कृति) के विचारानुसार धर्म और राजनीति एक-दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। भारतीय संस्कृति धर्मनिरपेक्ष राज्य में विश्वास करती है किन्तु मुस्लिम तथा ईसाई सम्प्रदाय धर्मतन्त्र में ही विश्वास करते हैं। इस पृष्ठभूमि में शासकीय नीति धर्म से राजनीति को अलग करना चाहती है। इसे मुसलमान और ईसाई अनुयायियों के विरोध में ही माना जायेगा, जबकि इस नीति से शासक कांग्रेस दल को ही विशेष हानि होगी। कांग्रेस दल की अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति सर्वविदित है। प्रस्तावित कानून इस नीति के विरोध में ही जायेगा। इस पर विचार करें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत जैसे बहुलवादी देशों में भारतीय संस्कृति के सम्मान व राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखना परम आवश्यक है और किसी भी दल की यह नीति कि विभिन्न सम्प्रदाय बराबर की श्रेणी में आयेंगे, खतरे से खाली नहीं है।

प्रशासन का आर्थिक पर्यावरण (Economic Environment of Administration)

आधुनिक युग में आर्थिक विकास का अत्यन्त महत्व हो गया है। कुछ समय पहले तक राजनीतिक परिस्थितियों को ही अधिक महत्व दिया जाता था; परन्तु पिछले कुछ वर्षों से आर्थिक विकास के अनुसार ही नवीन इकाइयों का गठन किया जाता है। सत्य तो यह है कि पुरातन भारत में भी अर्थव्यवस्था को काफी महत्व दिया जाता था। किन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अर्थ केवल जीवन के एक ही पहलू पर केन्द्रित था। भारत की सनातन संस्कृति में मोक्ष को सर्वोपरि माना जाता था और अर्थ को गौण समझा जाता था। स्मरणीय है कि 19वीं शताब्दी में इस "अर्थ" को "राजकीय अर्थशास्त्र" (Political Economics) के रूप में प्रयोग किया जाता था। आज के समय में राजनीतिक और आर्थिक मामले परस्पर इतने गुँथे हुए हैं कि राजकीय अर्थशास्त्र का प्रयोग ही समीचीन जान पड़ता है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक स्थिति का वहाँ के लोक-प्रशासन के स्वरूप, संगठन और कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः सभी विकासशील देशों में द्रुत आर्थिक विकास एवं आधुनिकीकरण के लिए प्रशासनिक सुधारों को अनिवार्य समझा जाता है। आज आर्थिक विकास के लिए विकास की भी आवश्यकता है। प्रशासन को आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाता है और इनके लिए समय-समय पर प्रशासनिक सुधार किये जाते हैं। किसी भी देश की योजना को लागू करने का दायित्व प्रशासन का होता है। अतः देश की प्रशासनिक प्रणाली वहाँ के आर्थिक जीवन को नियमित करती है। आज की प्रशासनिक व्यवस्था सिर्फ कानून और व्यवस्था के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही बल्कि यह प्रशासन व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू को अधिकाधिक खुशहाल बनाने के लिए लोक-कल्याणकारी प्रशासन बन गया है। डॉ. आर. के. दुबे लिखते हैं : "लोक-कल्याणकारी राज्य में आर्थिक विकास और सामाजिक विकास की अनेक नयी-नयी योजनाएँ संचालित की जाती हैं। प्रत्येक आर्थिक योजना पर्यावरण की परिस्थितियों से ही प्रभावित होती है, लेकिन इन योजनाओं को लागू करना लोक-प्रशासन का दायित्व बन जाता है। आर्थिक विकास कार्यक्रमों को पूरा करने की लोक-प्रशासन की क्षमता उत्पादन का महत्वपूर्ण निर्णायक तत्व होती है। आर्थिक विकास के उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा अपनी योग्यता को बढ़ाने हेतु लोक-प्रशासन को आमतौर पर नये मूल्यों को भी अपनाना पड़ता है। अतः आर्थिक वातावरण तथा लोक-प्रशासन दोनों एक-दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।"[1] लोक-प्रशासन और पर्यावरण के आर्थिक पहलू को समझने के लिए निम्नलिखित अध्ययन उपयोगी हैं :

(1) **प्रशासन का आर्थिक सहयोग में विकास**—आर्थिक विकास की प्रक्रिया में लोक-प्रशासन की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्रशासन को आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल ढाला जाता है और इसके लिए समय-समय पर प्रशासनिक सुधार किये जाते हैं। चूँकि प्रशासन की पुरानी रूप-रचना नवीन और महत्वाकांक्षी आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक नहीं होती, इसलिए उसे समयानुसार एवं आवश्यकतानुसार बदला जाता है। यह परिवर्तन इस बात को ध्यान में रखकर किया जाता है कि देश में द्रुत आर्थिक विकास की दशाएँ उत्पन्न की जा सकें।

(2) **आर्थिक व्यवहार का प्रशासन पर प्रभाव**—कोई भी देश जब अपना आर्थिक विकास करना चाहता है तब उसे तदनुसार संस्थागत परिवर्तन करने होते हैं। ऐसी व्यवस्था की जाती है

---

1. दुबे : वही, पृ. 121-122।

कि अधिक काम करने का प्रोत्साहन प्राप्त कर सकें। प्रो. रिग्स के अनुसार, कीमत-रचना की बाजार-व्यवस्था में उत्पादन बढ़ता है, इस व्यवस्था में लोग अपना सामान एवं सेवाएँ उसे बेचते हैं जो अधिक कीमत देता है। खरीददारी करते समय वे लाभप्रद सौदेबाजी करते हैं। टी. एन. चतुर्वेदी के अनुसार इस उपयोगितावादी एवं बौद्धिक दृष्टिकोण के कारण वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धि बढ़ जाती है।[1]

(3) लोक-प्रशासन अनेक प्रकार से देश के जीवन को नियन्त्रित करता है। जैसे एक बाजार तभी सुचारु रूप से कार्य कर सकता है जब उसके ऊपर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लगाये जायें तथा प्रशासन द्वारा अनेक सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायें। प्रशासनिक नियमों द्वारा ऐसी व्यवस्था की जाती है जिससे व्यवस्था बनी रहे। प्रशासन नाप-तौल की भी व्यवस्था करता है।

(4) वित्त को प्रशासन का जीवन-रक्त कहा जाता है। अतः यदि रक्त का नियमित प्रवाह न हो तो शरीर का पतन हो जायेगा। लोक-प्रशासन को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए पर्याप्त साधन, कर्मचारियों का सन्तोष, कार्य की उचित दशाएँ अनिवार्य हैं तथा इन सबकी व्यवस्था वित्त के द्वारा की जाती है।

(5) प्रशासन में भ्रष्टाचार का मूल आधार आर्थिक है। यदि हम प्रशासन को पवित्र और भ्रष्टाचारहीन बनाना चाहते हैं तो आर्थिक औषधि का प्रयोग करना आवश्यक है। इसी प्रकार, अकुशल प्रशासन तथा निम्न आर्थिक स्तर का एक दुष्चक्र होता है। जब एक राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होती है तो वहाँ योग्य तथा कुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं हो पाते।[2] इस कमी को दूर करने के लिए प्रशासनिक प्रयास आवश्यक है।

भारतीय प्रशासन और संवैधानिक पर्यावरण (Constitutional Environment)

किसी भी देश का प्रशासन संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप ही होता है। जहाँ संविधान का शासन है वहाँ प्रशासन का स्रोत भी संविधान ही होता है। इस प्रकार संविधान प्रशासन को आधार प्रदान करता है। हमारे प्रशासन पर संविधान का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक सजीव और सबल संविधान के पीछे एक दर्शन होता है, एक आत्मा होती है, कुछ आस्थाएँ, आधारभूत मूल्य अथवा सिद्धान्त होते हैं। इन सबकी नींव पर ही राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था का महल खड़ा किया जाता है और राज्य के विभिन्न अंशों का शरीर-गठन किया जाता है।[3] भारतीय संविधान के मूल सिद्धान्त किन्हीं वादों और गतानुगतिक सूत्रों की सीमाओं में नहीं बँधे हैं। वे अनिवार्यतः व्यावहारोपयोगी हैं। संविधान बिना किसी प्रकार के भेदभाव के देश में रहने वाले सभी लोगों की साधारण जनहित की भावना से अनुप्राणित है। भारतीय संविधान देश में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। अतः देश का प्रशासन भी जनसेवक तथा जनहितकारी है।

प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल जीवनमार्ग चुनता है और उस मार्ग पर चलने का प्रयास करता है। यह जीवनमार्ग संविधान होता है। भारतीय संविधान के मूल सिद्धान्त एवं मूल्य उसकी प्रस्तावना में, मूल अधिकारों सम्बन्धी तत्व तीसरे भाग में तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्व चौथे भाग में विशेष रूप से देखने को मिलते हैं।

---

1. चतुर्वेदी, टी. एन. : *तुलनात्मक लोक-प्रशासन,* रिसर्च प्रकाशन, सामाजिक विज्ञान, दिल्ली, पृ. 21-22।
2. *वही,* पृ. 24।
3. कश्यप, सुभाष : *भारतीय सांविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष,* रिसर्च प्रकाशन, दिल्ली, 1972, पृ. 327।

उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी देश का प्रशासन देश के संवैधानिक परिवेश की सीमाओं में रहकर ही कार्य करता है। भारतीय प्रशासन और संवैधानिक परिवेश को समझने के लिए भारतीय संविधान की विशेषताओं को जानना आवश्यक है। संक्षेप में प्रमुख विशेषताएँ हैं—निर्मित, लिखित और सर्वाधिक व्यापक संविधान, इकहरी नागरिकता, सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य, लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित धर्मनिरपेक्ष राज्य, समाजवादी एवं लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना, कठोरता और लचीलेपन का समन्वय, संसदात्मक शासन-व्यवस्था, एकात्मक लक्षणों सहित संघात्मक शासन, मौलिक अधिकार और कर्तव्यों का वर्णन, राज्य के नीति-निर्देशक तत्व, स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका, अल्पसंख्यक तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण की विशेष व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं विश्व-शान्ति के आदर्श की मान्यता आदि। इस प्रकार संविधान परिवेश की सीमाओं के अन्तर्गत रहकर ही प्रशासन-कार्य करता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि देश विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, संवैधानिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रशासन को न केवल प्रभावित करती हैं अपितु उसकी कार्य-प्रणाली एवं ढाँचे को नया रूप प्रदान करती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रशासन और वातावरण में घनिष्ठ सम्बन्ध है। **प्रो. रिग्स** के अनुसार, किसी भी प्रशासनिक नमूने का महत्व उसकी स्थिति के अन्तर्गत होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, संवैधानिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं की प्रशासनिक व्यवस्था के साथ उसी प्रकार परस्पर क्रिया होती है जैसे सभी सामाजिक व्यवस्थाएँ अपने वातावरण के साथ परस्पर क्रिया करती हैं तथा उनको प्रभावित करती हैं और उनसे प्रभावित होती हैं।

(2) पर्यावरण और विकास
[ENVIRONMENT & DEVELOPMENT]

पर्यावरण और विकास का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु यह सम्बन्ध आज का नहीं है। प्राचीन समय में भी इन दोनों का सम्बन्ध था और प्लेटो वातावरण के महत्व के प्रति सजग था और उसने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे। वैसे लोक-प्रशासन में पर्यावरण के अध्ययन का विचार वस्तुतः वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार एक पौधे के लिए उपयुक्त जलवायु, प्रकाश तथा बाहरी वातावरण आवश्यक है उसी प्रकार एक सामाजिक संस्था के विकास के लिए वातावरण आवश्यक है। मार्क्स के समय से ही यह माना जाता रहा है कि व्यक्ति, समाज एवं प्रशासन के समस्त क्रियाकलापों का स्वरूप उसकी बाहरी परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। प्रशासनिक समस्या और विकास से सम्बन्धित समस्या की सम्पूर्ण जानकारी के लिए सम्बन्धित प्रशासन के बाहरी परिवेश का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। जो प्रशासनिक संस्थाएँ किसी एक देश में सफलतापूर्वक कार्य करती हैं उन्हें दूसरे देशों में अपनाने के प्रयास किये जाते हैं। लेकिन उस प्रशासनिक व्यवस्था को दूसरे देश में अपनाये जाने के पूर्व दोनों के पर्यावरण का सूक्ष्म अध्ययन एवं विवेचन आवश्यक हो जाता है। वातावरण सम्बन्धी तत्व न सिर्फ समाज में प्रभावशाली परिवर्तन लाते हैं बल्कि पर्यावरण सम्बन्धी तत्व प्रशासन और उसके विकास कार्यक्रमों को भी व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। आज औद्योगीकरण के कारण विकास के क्षेत्र में पर्यावरण का महत्व बढ़ गया है और विश्वभर में पर्यावरण की सर्वस्व चर्चा हो रही है और दूषित वातावरण को रोकने के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। चूँकि विकास प्रशासन के द्वारा किया जाता है इसलिए प्रशासन और विकास की संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

द्वितीय महायुद्ध तक वातावरण की समस्या गम्भीर न थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बड़ी मात्रा में अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण तथा जंगलों का विनाश आदि कारणों के फलस्वरूप वातावरण हमारे युग की सबसे गम्भीर समस्याओं में से एक बन गयी है। यह समस्या मानवकृत है।

आज बढ़ते हुए जीवाश्मी ईंधन, रासायनिक पदार्थों, परमाणु रिएक्टर्स का बढ़ता उपयोग, जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई, प्रकृति का दोहन आदि न केवल वातावरण को दूषित कर रहे हैं बल्कि मानव स्वास्थ्य के लिए गम्भीर समस्या उत्पन्न कर रहे हैं। जमीन पर बढ़ता दबाव, रसायनों का अधिक उपयोग, वनोन्मूलन और अधिक मरुस्थल में वृद्धि के कारण विश्व के अनेक हिस्सों की भूमि की उपजाऊ क्षमता कम हुई है।[1] इसी सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र ग्रुप ने अपनी रिपोर्ट में कहा है : "इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि संसाधनों की कमी और पारिस्थितिक दबाव भविष्य में मानव और देशों के कल्याण के लिए वास्तविक खतरे हैं।"

जहाँ एक ओर पर्यावरण की बिगड़ती हुई स्थिति से निपटने के लिए विश्व का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास हो रहा है तो दूसरी ओर प्रकृति और मानव की आत्म-निर्भरता के प्रति जागरूकता बढ़ रही है। इस समझ के कारण ही अब विकास और पर्यावरण अध्ययन का महत्व बढ़ गया है और लोगों की समझ में यह आ गया है कि मानव और पर्यावरण के बीच अच्छे सम्बन्ध पर उनका अस्तित्व निर्भर करता है।

अर्थ (Meaning)

पर्यावरण की सुरक्षा, सुधार और संसाधनों का उपयोग विकास योजना और कार्यक्रमों की स्थापना के मार्गदर्शक सिद्धान्त रहे हैं। सचमुच, ऐसे कोई विकास कार्यक्रम और परियोजना नहीं हैं जिनका पर्यावरण पर प्रभाव न पड़ता हो। पर्यावरण के दो रूप हैं—प्राकृतिक और मानव-निर्मित। दोनों की मानव के कल्याण और मौलिक अधिकार उपयोग के लिए आवश्यक हैं। पर्यावरण अवधारणा मनुष्य परिवेश निर्माण के समस्त अंगों की समग्रता है। पर्यावरण सामाजिक, जीवविद्या, पदार्थ विज्ञान और रासायनिक कारकों का समस्त योग है, जो मानव परिवेश का निर्माण करता है। इनमें से परिवेश का प्रत्येक अंग संसाधन का निर्माण करता है जिस पर मानव कल्याण और उसका अस्तित्व निर्भर करता है। पर्यावरण में मानव सम्बन्धित समस्त गतिविधियों का उपयोग किया जाता है, इसलिए 'पर्यावरण प्रशासन' की एक व्यावहारिक और समझने योग्य परिभाषा करना कठिन है। यह किसी पर्यावरण प्रशासक के बूते की बात नहीं है कि वह पर्यावरण के प्रत्येक अंगों की जानकारी का पण्डित बन जाय। पर्यावरण प्रशासन का अर्थ है : "मानवीय कार्यों की इस प्रकार व्यवस्था करना जिससे जैविक स्वास्थ्य, विविधता और पारिस्थितिक सन्तुलन सुरक्षित बना रहे।"

पर्यावरण सम्बन्धी समस्या (Problems of Environment)

पर्यावरण समस्या एक जटिल रूप धारण करती जा रही है। यहाँ हम उन बिन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न कर रहे हैं जो वातावरण को दूषित करने के लिए उत्तरदायी हैं। ये तत्व हैं :

---

1. Second Report of the Independent Commission on International Development Issues, Common Crisis : *North-South Co-operation for World Recovery*, London, Pan Books, 1983, p. 126.

1. **जनसंख्या संकट** (Population Problem)—विश्व की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है और हमारे पास सबको सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त अनाज नहीं है। जनसंख्या के विस्फोट के खतरे एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के देशों में अधिक हैं, जिसके कारण वहाँ सामान्य स्वास्थ्य सम्बन्धी और अन्य सामान्य सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भूमि पर दबाव बढ़ रहा है। इथोपिया, घाना, कीनिया, नाइजीरिया, भारत और बांगलादेश जहाँ भूमि की कमी है और जनसंख्या की वृद्धि की गति तेज है, आर्थिक और पर्यावरण की दृष्टि से कृषि, स्वास्थ्य, वनोन्मूलन, भूमि की कमी और बढ़ते हुए मरुस्थल की समस्या का अनुभव कर रहे हैं। पौष्टिक आहार और स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी के कारण अपंग शिशु न केवल जन्म लेते हैं बल्कि उनकी नैतिकता में गिरावट भी आती है। बढ़ती हुई जनसंख्या का प्रतिकूल प्रभाव शहरों में अधिक देखने को मिलता है। इसका कारण है गाँवों से शहरों की ओर जनता का पलायन और बढ़ता हुआ औद्योगीकरण। अतः पर्यावरण की रक्षा और विकास के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या पर रोक लगाना अत्यन्त आवश्यक है।

2. **गरीबी** (Poverty)—गरीबी पर्यावरण की एक भयप्रद समस्या है। पर्यावरण के साथ प्रदूषण की समस्या जुड़ी हुई है। गरीबी और आवश्यकता सबसे बड़े प्रदूषित करने वाले हैं। इसका आशय यह है कि यदि गरीबी को दूर कर दिया जाय तो प्रदूषण समस्या का समाधान हो सकता है। **राष्ट्रमण्डल सचिवालय** द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार, "विश्व की जनसंख्या का पाँचवाँ हिस्सा गरीबी की स्थिति में रह रहा है; 800 मिलियन लोग प्रतिदिन भूखे रहते हैं; 150 मिलियन पाँच वर्ष से कम आयु के शिशु कुपोषण से ग्रस्त हैं; पाँच वर्ष से कम आयु वाले 14 मिलियन शिशु मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। लगभग दो-तिहाई कुपोषण से ग्रस्त शिशु दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में रहते हैं।"[1] एशिया-अफ्रीका के देशों के लोगों की प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण पौष्टिक आहार लेने में समर्थ नहीं हैं। गरीबी मानव पर्यावरण का न केवल ह्रास बल्कि उसके विकास को भी रोकता है। शुद्ध पेय जल की उपलब्धि और स्वच्छता पर्यावरण को दूषित करने के प्रमुख कारण हैं। अपर्याप्त रहने की जगह और झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वालों की बढ़ती जनसंख्या (शहरों में) पर्यावरण समस्या के लिए चुनौती है। गरीबी जनसंख्या में वृद्धि का कारण है। गरीबों का परिवार अपेक्षाकृत बड़ा होता है। वे 'हम दो हमारे दो' सिद्धान्त पर विश्वास नहीं रखते हैं। भूमि की कमी, जंगलों का विनाश, अधिक रसायन और खाद्य और भू-क्षरण (Soil erosion) भूमि की उपजाऊ क्षमता को कम करते हैं। इससे भी गरीबां बढ़ रही है। अतः आवश्यकता है कि विकासशील देशों में गरीबी की समस्या का निदान कर विकास के लिए स्वस्थ वातावरण का निर्माण करें।

ऊर्जा-कमी और प्रदूषण (Shortage of Energy & Pollution Problem)

पर्यावरण की एक अन्य समस्या उचित ऊर्जा की कमी और प्रदूषण है। परम्परागत ऊर्जा के तरीकों के कारण प्रदूषण गरम हो जाता है, मौसम में परिवर्तन, गर्मी में तेजी, कार्बन डाइऑक्साइड और सल्फर डाइऑक्साइड के स्तर में वृद्धि होती है। इनके कारण प्रदूषण की समस्या उत्पन्न होती है और पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आज रेडियो-सक्रिय परमाणवीय गन्दगी पर्यावरण के लिए एक नवीन चुनौती है। इस गम्भीर समस्या के समाधान के लिए एक नवीन ऊर्जा अवधारणा की आवश्यकता है जिसमें प्रदूषण से बचा जा सके तथा

1. *Quoted from the Commonwealth Current*, Aug.-Sept., 1992, p. 2.

पर्यावरण की रक्षा की जा सके। इसके लिए 'ऊर्जा फार्म' और 'सौर्य ऊर्जा' जैसे नवीन तरीकों की खोज तथा प्रयोग करने की आवश्यकता है।

हथियारों की स्पर्द्धा (Arms Race)

पर्यावरण को दूषित करने का एक कारण हथियारों की स्पर्द्धा है। विकसित देशों में हथियारों पर अरबों रुपये खर्च किये जाते हैं। 1990 में उन्होंने हथियारों पर एक महाशंख डालर (Trillon) खर्च किये। विकासशील देश भी अपने विकास कार्यों की उपेक्षा करके हथियारों की दौड़ में सम्मिलित हो गये हैं। 1990 में विकासशील देशों ने हथियारों पर 200 मिलियन डालर की राशि खर्च की। इसके विपरीत स्वास्थ्य पर विकासशील देशों ने 600 बिलियन डालर 1990 में खर्च किये।[1] यदि हथियारों की खरीद पर खर्च कम किया जा सके, तो बचे हुए संसाधनों को मानव कल्याण के कार्यों में लगाया जा सकता है।

ऋण-बोझ (Debt Problem)

ऋण का बोझ और व्यापार की प्रतिगामी (Regressive) शर्तें विश्व के प्रमुख प्रश्न बन गये हैं। ऋण की बोझ की समस्या विकासशील देशों में देखने को मिलती है। विकासशील देशों को अपने सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त और उचित संसाधनों, विशेषकर विदेशी मुद्रा प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। धन के अभाव और ऋण-बोझ से बचने के लिए विकासशील देश अपने विकास कार्यक्रमों को गति देने में असमर्थ हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त ऋण प्राप्त करने के लिए कुछ ऐसी शर्तों को मानना पड़ता है जो साधारणतः मानने योग्य नहीं होती हैं। यदि ऋणदाता देश ब्याज की दर में एक प्रतिशत की वृद्धि करते हैं तो विकासशील देशों पर पाँच बिलियन डालर का ऋणबोझ बढ़ता है। 1990 में समस्त विकासशील देशों का ऋण-बोझ 500 बिलियन डालर था।[2] यह ऋण-बोझ विकासशील देशों के संसाधनों पर दबाव डालता है और वे ऋण-बोझ से हमेशा दबे रहते हैं। ऐसी स्थिति में उनके विकास कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

सिकुड़ते हुए कच्चे संसाधन (Problem of Raw Sources)

पर्यावरण के लिए एक अन्य समस्या संसाधनों की कमी होना है। प्रकृति से हमें जो कच्चे संसाधन के रूप में मिलता है उसमें कमी होती जा रही है। इस दिशा में हमने पर्याप्त वृक्ष और भूमि खो दी है और खोते जा रहे हैं। दूसरे प्राकृतिक संसाधनों की भी सीमा है। उनका बड़े पैमाने पर जो दोहन हो रहा है एक दिन समाप्त हो जायेंगे। यह कोयला और तेल के विषय में देखने को मिलता है। इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों का अन्धाधुन्ध उपयोग पर्यावरण को दूषित कर रहा है। यह स्मरणीय है कि प्राकृतिक वातावरण मानव की सेवा और रक्षा करता है। अतः हमें प्राकृतिक संसाधनों के दुरुपयोग पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता है और उसके सिकुड़ते हुए दायरे को रोकने के प्रयास करने की जरूरत है। प्राकृतिक संसाधनों के अन्धाधुन्ध उपयोग के कारण प्राकृतिक वातावरण में बदलाव आया है जिसके फलस्वरूप विश्व में कहीं सूखा, कहीं अतिवर्षा, तो कहीं बीमारी आदि जैसे प्राकृतिक प्रकोप देखने को मिलते हैं। अतः हमें गम्भीरतापूर्वक इस महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करना चाहिए जिससे आने वाली पीढ़ी एक स्वस्थ वातावरण में साँस ले सके।

---

1. R. K. Sapru : *op. cit.*, p. 298.
2. *Ibid.*, p. 300.

जल प्रदूषण (Water Pollution)

जल पर्यावरण का अभिन्न अंग है जिसके स्रोत वर्षा के अतिरिक्त नदी, तालाब, कुएँ, झील आदि हैं। जनसंख्या वृद्धि, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण ने हमारे जल-स्रोतों को प्रदूषित तो किया ही है,[1] जल का संकट भी उत्पन्न कर दिया है। यद्यपि भारत जल-सम्पदा के मामले में कुछ सम्पन्नतम राष्ट्रों में से एक है, फिर भी जल का संकट निरन्तर बढ़ता जा रहा है। देश की भूमिगत जल-सम्पदा प्रतिवर्ष होने वाली वर्षा से दस गुना अधिक है; तो भी वर्ष 1970 से हर वर्ष करीब एक लाख सत्तर हजार ट्यूबवैल लगते जाने से अनेक क्षेत्रों में जल का स्तर घटता जा रहा है।[2] प्रसिद्ध तालाब, झील और कुएँ सूखते जा रहे हैं। नलकूप, कुएँ और तालाब जैसी किफायती परियोजनाओं की उपेक्षा की जा रही है, केवल बड़े बाँध बनाये जा रहे हैं, जिनकी कमियाँ, कमजोरियाँ और दुष्परिणाम अब नर्मदा परियोजना पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बहस के बाद सार्वजनिक तथ्य हैं। वर्षा का अधिकांश पानी अपने साथ कीमती मिट्टी को लेकर समुद्र में चला जाता है और देश भयंकर सूखे के दौर से गुजर रहा है।

साथ ही प्रदूषित जल मनुष्यों को रोगग्रस्त करता है, समुद्री जीवों व वनस्पतियों को नष्ट करता है तथा समुद्र व भूमि के पर्यावरण सन्तुलन को बिगाड़ता है। 1980 के गांधी शान्ति प्रतिष्ठान के अध्ययन के अनुसार देश में उपलब्ध कुल पानी का 70% भाग प्रदूषित हो गया है। परमाणु परीक्षणों से जल में मिलने वाले नाभिकीय कण मनुष्य और पर्यावरण दोनों के लिए अत्यन्त घातक हैं।

वायु प्रदूषण (Air Pollution)

वायुमण्डल पर्यावरण का महत्वपूर्ण भाग है। वायु के अभाव में मानव जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। विकास के नाम पर मानव ने अपने औद्योगिक लाभ के लिए जिस अन्धाधुन्ध तरीके से प्राकृतिक साधनों को नष्ट किया है उसका परिणाम यह हुआ कि प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ने लगा है और वायुमण्डल भी इससे अछूता नहीं रह सका है। **विश्व स्वास्थ्य संगठन** के अनुसार वायु प्रदूषण एक ऐसी स्थिति है जिसमें बाह्य वातावरण में मनुष्य और उसके पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले तत्व सघन रूप से एकत्रित हो जाते हैं। हमारे वायुमण्डल में नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड आदि गैसें एक निश्चित अनुपात में उपस्थित रहती हैं। यदि इनके अनुपात के सन्तुलन में परिवर्तन होता है तो वायुमण्डल अशुद्ध हो जाता है। इसे अशुद्ध करने वाले प्रदूषक तत्वों में उपर्युक्त गैसों के अतिरिक्त हाइड्रोकार्बन्स ऑक्सीडेट, ओजोन तथा धूल-मिट्टी के कण व परमाणु परीक्षण से निकलने वाले नाभिकीय कण हैं। भारत के सन्दर्भ में लकड़ी, गोबर, खेत का कचरा आदि गैर-व्यापारिक वस्तुओं के जलने से भी वायु प्रदूषण फैलता है।

गन्दी बस्तियों, उद्योगों से निकलने वाला धुआँ, कृषि में प्रयुक्त रसायन परिवहन के वाहनों से निकलने वाला धुआँ, वनों की कटाई और वृक्षों की कमी तथा परमाणु परीक्षणों आदि ने वायुमण्डल को प्रदूषित किया है।

ध्वनि प्रदूषण (Voice Pollution)

ध्वनि का शोर पर्यावरण को सूक्ष्म तरीके से प्रदूषित करता है। इस प्रदूषण को केवल महसूस किया जा सकता है, देखा नहीं जा सकता है। वातावरण में फैली अदृश्य, अनिच्छित ध्वनि

---

1. Arun. C. Vakil : *Economic Aspects of Environmental Pollution in India*, Bombay, 1984, p. 98.
2. अनिल अग्रवाल एवं सुनीता नारायण : *हमारा पर्यावरण*, दिल्ली, गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, 1988, पृ. 34।

अथवा शोर को ध्वनि प्रदूषण कहा जाता है। आधुनिक युग में जिस गति से कारखानों एवं वाहनों आदि की संख्या में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हुई है, उससे यन्त्रों का शोर व यातायात कोलाहल बढ़ा है। उत्सवों, मेलों, समारोहों में तेज ध्वनि के संगीत, वाद्य-यन्त्र, लाउडस्पीकरों के प्रयोग तथा वायुयानों, रेलगाड़ियों और कारखानों की मशीनों आदि से सम्पूर्ण पर्यावरण में ध्वनि प्रदूषण की समस्या विकट हो गयी है। यह ध्वनि-तीव्रता न केवल मानव के कार्यों में ही विघ्न डालती है, बल्कि इसके अन्य शारीरिक प्रभाव भी घातक होते हैं। एक सीमा से अधिक ध्वनि या शोर कानों के लिए असह्य हो जाती है, श्रवण-शक्ति को समाप्त कर सकती है, सोचने, विचारने व स्मरण करने की शक्ति को नष्ट कर सकती है और अन्ततः शारीरिक दर्द व रोग जैसे, उच्च रक्तचाप व हृदय रोग उत्पन्न कर सकती है। वृक्षों की कमी तथा ध्वनि-विस्तारक यन्त्रों के अधिकाधिक प्रयोग ने ध्वनि प्रदूषण की समस्या को गम्भीर स्वरूप प्रदान किया है। जनवरी 1980 में आयोजित भारतीय विज्ञान कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए उसके अध्यक्ष प्रो. **एस. के. शर्मा** ने बताया था कि भारत में शोर को रोकने का कोई उपाय नहीं किया गया है। इसी कारण यहाँ के शहर पश्चिमी शहरों की अपेक्षा अधिक शोरगुल वाले माने जाते हैं। कोलकाता, मुम्बई और दिल्ली विश्व के सबसे अधिक शोर वाले शहर माने जाते हैं। इस प्रकार शोर मानव के स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद होता है।

परमाणु विखण्डन या नाभिकीय प्रदूषण (Atomic Pollution)

परमाणु ऊर्जा मानव द्वारा आविष्कृत सर्वाधिक शक्तिशाली ऊर्जा स्रोत है। जहाँ विकास कार्यों में इसका प्रयोग अत्यधिक लाभकारी है, वहीं विनाश हेतु इसका प्रयोग अत्यन्त भयावह हो सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के शहरों हिरोशिमा व नागासाकी पर गिराये गये अणु बमों से भयानक तबाही आज भी अविस्मरणीय है। परमाणु ऊर्जा से चलने वाले कारखानों में छोटी-सी असावधानी भी बड़ी दुर्घटना का कारण बन सकती है, जैसे रूस के चेरनोबिल अणु बिजलीघर में विस्फोट काण्ड और मार्च 1963 में भारत में नरौरा ऊर्जा संयन्त्र में अग्निकाण्ड। इस प्रदूषण से जल, थल व वायु तीनों ही एक साथ दूषित होते हैं। परमाणु विखण्डन के दौरान ऊष्मा, ताप व अदृश्य किरणें एल्फा, बीटा व गामा निकलती हैं जिनमें असंख्य रेडियोधर्मी कण होते हैं जो कि हवा के साथ-साथ हजारों किलोमीटर दूर तक फैल जाते हैं। ये कण जहाँ-जहाँ पहुँचते हैं वहाँ पर्यावरण को दूषित करते हैं तथा प्राणियों व वनस्पति पर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव डालते हैं। ये मानव में कई प्रकार की बीमारियों, जैसे त्वचा का कैन्सर, बन्ध्यता, फेफड़ों का कैन्सर, नेत्र-रोग आदि को उत्पन्न करते हैं।[1] प्रायः परमाणु परीक्षणों के लिए समुद्रों या रेगिस्तानों को चुना जाता है, जहाँ इन परीक्षणों से मछलियों व पेड़-पौधों में रेडियोधर्मिता पहुँच जाती है जो खाद्य-शृंखला के माध्यम से अन्य जीव-जन्तुओं व मानवों तक पहुँचते हैं।[2] इस प्रकार हानिकारक प्रभावों की भी एक शृंखला बन जाती है जो पर्यावरण के सन्तुलन और स्वास्थ्य को पूरी तरह से नष्ट करने की क्षमता रखती है।

वन और पर्यावरण (Forest & Environment)

वन-विनाश पर्यावरण सन्तुलन को बिगाड़ने का एक प्रमुख कारक है। वन पर्यावरण संरक्षण के महत्वपूर्ण अंग हैं। किन्तु आज उनका तीव्र गति से विनाश किया जा रहा है। वन ऐसे संसाधन हैं जो नवीकरण के योग्य हैं और आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करते हैं।

---

1. *हमारा पर्यावरण,* पूर्वोद्धृत, पृ. 34।
2. हरिशचन्द्र व्यास : *जनसंख्या और पर्यावरण,* नई दिल्ली, विद्या विहार, 1989, पृ. 9-10 एवं शुभ पटवा : *पर्यावरण की संस्कृति,* बीकानेर, वाग्देवी प्रकाशन, 1989, पृ. 18-19।

इनके विनाश के कारण व्यापक भू-कटाव, अनियमित वर्षा और अत्यधिक बाढ़ का आना है। इसके अतिरिक्त ईंधन-लकड़ी का अभाव उत्पन्न हो रहा है तथा भू-उत्पादकता में कमी आ रही है। इसलिए वनों को ठीक ही देश का 'पर्यावरण बैंक' कहा गया है क्योंकि पर्यावरण की गुणवत्ता सुधारने में वनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

1981 में **विश्व खाद्य संगठन** की उष्ण कटिबन्धीय एशिया के वन संसाधनों सम्बन्धी एक रिपोर्ट ने एशियाई क्षेत्र में गम्भीर रूप से घटती जा रही वन-सम्पदा पर चेतावनी देते हुए कहा था कि वनों की जो बहुमूल्य सेवाएँ और भूमिकाएँ हैं, जैसे वन्य प्राणियों को प्रश्रय देना, भूमि और जल का संरक्षण करना, मौसम का चक्र कायम रखना आदि; इन्हें निकट भविष्य में फिर से पहले जैसी हालत में लाने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे हैं। इसका कारण वन-विभाग की सालाना दर है जो लगभग डेढ़ लाख हेक्टेयर रही है। वन विभाग द्वारा प्रसारित आँकड़ों के अनुसार 1951 से 1972 के बीच बाँधों, नये खेतों, सड़कों और उद्योगों के कारण देश को 34 लाख हेक्टेयर वन खोना पड़ा है[1] परन्तु उपग्रहों के ताजा चित्र वताते हैं कि देश में हर साल 13 लाख हेक्टेयर वन नष्ट हो रहे हैं। यह स्थिति निरन्तर भयावह होती जा रही है।

पर्यावरण संकट और नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था[2] (Environment Crisis and New International System)

केवल गहन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समझ के द्वारा ही पर्यावरण संकट का समाधान करके नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम इन्हीं समस्याओं के समाधान और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पथ प्रदर्शन करता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक अधिकार सुरक्षित हों जिससे वह मानव गौरव के साथ रह सके, तो हमें मानव की मौलिक जरूरतों को हमारे विकास कार्यक्रमों में सम्मिलित करना चाहिए। यह कार्य हमें बिना बाहरी वातावरण का उल्लंघन किये हुए करना होगा जिस पर सम्पूर्ण मानवता का अस्तित्व निर्भर करता है। यह महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्पन्न किया जाना चाहिए जिससे एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना की जा सके और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस समस्या का समाधान किया जा सके। इसलिए अब यह विषय विकसित और विकासशील देशों के लिए शोध का विषय बन गया है। निरन्तर यह प्रयास किये जा रहे हैं कि इस गम्भीर संकट का सशक्त समाधान किस प्रकार किया जा सके।

भारत में पर्यावरण समस्या (Invironment Problem in India)

अन्य देशों की भाँति, भारत के नागरिक भी पर्यावरण से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना कर रहे हैं जो उनके सामान्य जीवन को प्रभावित कर रहा है। विकसित देशों की पर्यावरण समस्या उनके संसाधन के दुरुपयोग जीवन-शैली की देन है, जबकि हमारी समस्या बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संसाधनों पर बढ़ते दबाव का परिणाम है। भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या न केवल पर्यावरण के लिए एक बड़ी चुनौती है अपितु मानव के अस्तित्व के लिए खतरा है। मानवता के कल्याण के लिए पर्यावरण का संरक्षण और सुधार आवश्यक है। भूमि, वायु और जल जैसे प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग इस प्रकार करने की आवश्यकता है जिससे भविष्य की पीढ़ियाँ स्वस्थ पर्यावरण में साँस ले सकें।

छठी पंचवर्षीय योजना के अनुसार भारत में पर्यावरण समस्याओं को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है : (अ) जो गरीबी और बेरोजगारी से उत्पन्न हुई हैं; (ब) वे जो विकास की प्रक्रिया के

---

1. सुभाष यादव एवं रामअवतार शर्मा : *भारतीय राजनीति ज्वलन्त प्रश्न,* पूर्वोद्धत पुस्तक में उद्धत, पृ. 264।
2. I K. Chatterjee : *Development Administration,* Surjeet Publication, Delhi, 1990, p. 304.

नकारात्मक प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई हैं। प्रथम श्रेणी में गरीबी के कारण जल, भूमि, आवास, स्वास्थ्य जैसी सुविधाएँ अधिक जनसंख्या के कारण सबको उपलब्ध नहीं हैं। दूसरी श्रेणी में अनभिप्रेत विकास और संवृद्धि है।

भारत में पर्यावरण को दूषित करने के अनेक कारण हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :

1. जल और भूमि की कमी;
2. प्रदूषण (वायु, जल, भूमि, खनिज, प्रकाश);
3. जंगली प्रदेश और जंगली जीवन की क्षति;
4. जनसंख्या और गरीबी;
5. आवास समस्या;
6. बढ़ता औद्योगीकरण; और
7. पर्यावरण के प्रति जागरूकता की कमी आदि।

पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूकता (Awarness towards Environment)

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विकसित एवं सम्पन्न पश्चिमी राष्ट्रों में पर्यावरण संरक्षण के लिए कुछ समूहों का उदय हुआ। उस समय विश्व के सीमित क्षेत्रों में केवल कुछ ऐसे कानून एवं विधियाँ थीं जो प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा से सम्बन्धित थे। मूलतः वे जनसाधारण की चिन्ता का परिणाम न होकर शासकीय विशिष्ट वर्गों की सुविधा के लिए बनाये गये थे। पश्चिमी देशों में जिस आन्दोलन का जन्म हुआ वह प्राकृतिक संसाधनों के अति-प्रयोग और विनाश की चिन्ता के साथ-साथ एक दूरगामी और विशाल दृष्टिकोण का भी परिणाम था जो मानवता के लम्बे अस्तित्व और जीवन की गुणवत्ता पर केन्द्रित था।[1] इस आन्दोलन के प्रारम्भकर्ता प्रारम्भिक अराजकतावादी और समाजवादी विचारक थे परन्तु इनका विचार औद्योगिक समाज की कमियों की ओर ध्यान केन्द्रित करनें तक ही सीमित था। सर्वप्रथम इसकी परिणति अमेरिका में 1960 के दशक में प्रारम्भ हुए 'पुष्प शिशु' (Flower Children) आन्दोलन में हुई।[2] उसी समय वहाँ के राष्ट्रपति चुनावों के दौरान पर्यावरण का मुद्दा भी उठाया गया जिसके परिणामस्वरूप अमेरिका में जल और वायु प्रदूषण रोकने के लिए कानूनों का निर्माण किया गया।

इसी समय के आसपास कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व का ध्यान प्रदूषण की समस्या और मानव स्वास्थ्य पर उसके प्रभाव की ओर आकर्षित किया जैसे जापान में मिनामाटा दुर्घटना, 1963; नीगाटा दुर्घटना, 1966; आदि जिनमें पारे के प्रदूषण से अनेक हृदय-विदारक मौतें हुईं। इससे पूर्व जापान में परमाणु बमों के भयंकर दुष्परिणाम देखे जा चुके थे। इन घटनाओं से उत्पन्न चिन्ता के फलस्वरूप 1972 में स्टाकहोम में मानवीय पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन हुआ जिसमें 113 देशों ने हिस्सा लिया। सम्मेलन का उद्देश्य प्रदूषण की रोकथाम और प्राकृतिक संसाधनों तथा वन्य जीवन के संरक्षण के लिए विश्वजनीन अभियान की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित करना था। 1973 के तेल संकट ने प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, पुनः प्रयोग और ऊर्जा के वैकल्पिक साधनों की खोज की ओर और भी अनिवार्य बना दिया। अब विकास की गति के साथ-साथ विकास के पर्यावरणीय प्रभावों और जीवन की गुणवत्ता के तथ्य भी महत्वपूर्ण हो गये।

---

1. सुषमा यादव और रामअवतार शर्मा : *वही*, पृ. 268।
2. R. F. Dasman : *The Conservation Alternative*, C. John Willey, 1975, p. 2.

सम्मेलन के दौरान विकसित और विकासशील देशों के बीच दृष्टिकोण की भिन्नता के बावजूद एक सकारात्मक परिणाम पर्यावरण के प्रति जागरूकता के विश्वजनीन प्रसार में हुआ और साथ ही विकास, संसाधनों के प्रबन्ध और नियोजन के समय पर्यावरण को ध्यान में रखते हुए कार्ययोजना का निर्माण हुआ। एक विश्व पर्यावरण दिवस (5 जून) की घोषणा हुई तथा संयुक्त राष्ट्र का पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) प्रारम्भ हुआ जिसके अन्तर्गत पर्यावरणीय प्रदूषण की रोकथाम के लिए अनेक आयोगों, संस्थानों और सम्मेलनों के माध्यम से विश्व पर्यावरण के बेहतर प्रबन्ध के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किये गये।[1]

भारत में सुधार के प्रयास (Reforms attempt in India)

1972 में स्टाकहोम मानवीय पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में से एक था और इस संकल्प का सहभागी था कि मानवीय पर्यावरण का संरक्षण और सुधार सब राष्ट्रों का पवित्र कर्तव्य है। भारत का यह संकल्प चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) में पहली बार स्पष्ट रूप से कहा गया………यह हमारी पीढ़ी का कर्तव्य है कि वह भूमि, जल, आकाश और वन्य जीवन की उत्पादक क्षमता का इस प्रकार सँभालकर उपयोग करे ताकि आने वाली पीढ़ियों को स्वस्थ पर्यावरण की रचना का अवसर मिल सके………सामंजस्यपूर्ण विकास के लिए योजना-कार्य व्यक्ति और प्रकृति की इस एकता को मान्यता देता है। ऐसा योजना-कार्य पर्यावरणीय मुद्दों के समग्र मूल्यांकन के आधार पर ही सम्भव है। ऐसे अनेक मामले हैं जिनके पर्यावरण सम्बन्धी पहलुओं पर ठीक समय पर उचित परामर्श से उनका बेहतर प्रारूप तैयार किया जा सकता है और फलस्वरूप पर्यावरण पर पड़ने वाले विपरीत प्रभावों को रोका जा सकता है और भयानक क्षति से बचा जा सकता है। अतः अपनी योजनाओं और विकास कार्यों में पर्यावरण का पक्ष सम्मिलित करना आवश्यक है।

भारत विश्व के कुछ देशों में से एक है जहाँ संविधान में पर्यावरण की सुरक्षा और सुधार का उल्लेख किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 48-A, 51-A में पर्यावरण से सम्बन्धित बातों का उल्लेख किया गया है। हमारे यहाँ समय-समय पर पर्यावरण से सम्बन्धित समस्याओं से निपटने के प्रयास होते रहे हैं। इन प्रयासों का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों में करेंगे :

1. **संवैधानिक प्रयास** (Constitutional Attempt)—देश के 42वें संविधान संशोधन के द्वारा 1976 में अनु. 51-A के माध्यम से नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों में और अनु. 48-A द्वारा राज्य के दायित्वों में पर्यावरण की सुरक्षा, वन और वन्य प्राणियों की सुरक्षा तथा विकास की बात सम्मिलित की गयी। इससे पूर्व भारतीय संविधान के अनु. 47 में यह प्रावधान था कि नागरिकों के पोषण व जीवन स्तर में सुधार एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार राज्य का एक प्राथमिक कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त अनु. 21 जीवन, जीवन के गौरव, एक सन्तुलित पर्यावरण में रहने, संक्रामक बीमारियों एवं उनके खतरों से बचाने की गारण्टी देता है।

अनु. 48-A यह घोषणा करता है कि राज्य पर्यावरण के सुधार व संरक्षण हेतु प्रयास करेगा और राष्ट्र के वन-जीवन की सुरक्षा का भी प्रयास करेगा। इसी प्रकार अनु. 51-C यह व्यवस्था करता है कि भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह प्राकृतिक पर्यावरण में सुधार व उसका संरक्षण करे। पर्यावरण में वन, झीलें, नदियाँ सभी सम्मिलित हैं जो वन्य जीवन के लिए आवश्यक हैं। यह उल्लेखनीय है कि 1976 तक संविधान में प्रत्यक्षतः 'पर्यावरण

1. सुषमा यादव और रामअवतार शर्मा : वही, पृ. 269।

सुरक्षा' का उल्लेख नहीं था,[1] फिर भी अनु. 21, 42, 43, 47, 48 और सातवीं अनुसूची में आबंटित विषयों में से अनेक से अप्रत्यक्ष तौर पर संसद और राज्य विधानसभाओं को पर्यावरण सम्बन्धी कानून बनाने का अधिकार मिल जाता था।[2] इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :[3]

संघीय सूची की प्रविष्टियाँ (Union List)

1. (52) उद्योग;
2. (53) तेल क्षेत्रों और खनिज तेल सम्पत्ति स्रोतों का विनियमन और विकास;
3. (54) खानों का विनियमन और खनिजों का विकास;
4. (55) खानों और तेल क्षेत्रों में श्रम और सुरक्षा का विनियमन;
5. (56) अन्तर्राज्यीय नदियों और नदी घाटियों का निर्माण;
6. (57) राज्य क्षेत्रीय सागरखण्ड से परे मछली पकड़ना और मत्स्य-क्षेत्र।

राज्य सूची (State List)

1. (6) सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता;
2. (14) कृषि, कीड़ों से सुरक्षा और पौधों का बीमारियों से बचाव, कृषि शिक्षा और अनुसन्धान;
3. (17) जल-प्रदाय, सिंचाई और नहरें, जल विकास और तटबन्ध, जल भण्डारण और जल शक्ति, सूची (1) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए;
4. (18) भूमि-विकास और सुधार आदि;
5. (21) मत्स्यिकी;
6. (24) उद्योग, सूची (1) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए;
7. (25) खानों का विनियमन और खनिज विकास सूची (1) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए।

समवर्ती सूची (Concurrent List)

1. (17-अ) वन;
2. (17-ग) वन्य पशु और पक्षियों का संरक्षण;
3. (20) आर्थिक और सामाजिक नियोजन;
4. (20-अ) जनगणना और नियोजन।

उपर्युक्त विषयों के विभाजन से यह स्पष्ट है कि चूँकि सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, जल, भूमि, मत्स्य-पालन आदि राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं, इन विषयों पर पर्यावरण सम्बन्धी विधायन का अधिकार पूर्णतः राज्य सरकारों के पास है। उद्योगों द्वारा फैलाये जा रहे प्रदूषण के नियन्त्रण सम्बन्धी कानून केन्द्र सरकार द्वारा बनाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रविष्टि

---

1. Balram Gupta : *Constitutional Imperatives for the Control of Environmental Pollution"* in R. K. Sapru (Ed.), Environment Management in India, New Delhi, Ashish Pub. House, 1987, pp. 64-71.
2. V. K. Bansal & N. K. Gupta : *Environment Pollution—A Constitutional Obligation* in R. K. Sapru : *Ibid.*, pp. 75-77.
3. सुषमा यादव एवं रामअवतार शर्मा : *वही*, पृ. 271-272।

केवल समवर्ती सूची में सम्मिलित वन, आर्थिक और सामाजिक नियोजन और वन्य जीवों का संरक्षण हैं जिनके आधार पर केन्द्रीय सरकार तत्काल विधान बनाने का कार्य कर सकती है। इससे पूर्व अनु. 253 के अन्तर्गत भी केन्द्र को विधायन का असीमित अधिकार प्राप्त था।

2. **कानूनी प्रयास** (Legal Attempt)—भारतीय संविधान में पर्यावरण से निपटने के लिए कानूनी तरीकों के निर्माण का उल्लेख किया गया है। इसी आधार पर देश में लगभग 400[1] ऐसे कानून हैं जिनका पर्यावरण की रक्षा के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इनमें प्राचीनतम 1853 का 'शोर एक्ट' (बम्बई और कोलाबा) है। वर्तमान में इन कानूनों की संख्या बढ़ गयी है, यद्यपि पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्य से विधि-निर्माण की गति धीमी रही है फिर भी, कीटनाशक अधिनियम, 1968; वन संरक्षण अधिनियम, 1972; जल प्रदूषण (निवारण और नियन्त्रण) अधिनियम, 1974; वन संरक्षण अधिनियम, 1980 और वायु-प्रदूषण निर्वारण और नियन्त्रण अधिनियम 1981 इस दिशा में उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। ये कानून पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्य को ध्यान में रखकर बनाये गये थे। सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयास पर्यावरण (सुरक्षा) अधिनियम, 1986 कहा जा सकता है जिसके द्वारा निवर्तमान समस्त अधिनियमों की कमियों को दूर करने तथा पर्यावरण के सभी आयामों पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न किया गया है। 1989 के पर्यावरण अधिनियम द्वारा पर्यावरण संरक्षण का सर्वोच्च उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार को सौंपा गया है। साथ ही जल अधिनियम, 1974 और वायु अधिनियम, 1981 को अधिक कठोर बनाया गया है। दुर्भाग्यवश ये कानून प्रदूषण की रोकथाम के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं। पर्यावरण सम्बन्धी लगभग सभी कानूनों में उद्योगों के उन हितों का भी ध्यान रखा गया है जो कानूनों को लागू करने वाले विभागों के फैसलों से प्रभावित होने वाले लोगों का न तो इन विधियों में जिक्र है और न उन्हें अदालत का दरवाजा खटखटाने का अधिकार दिया गया है। जल, वायु और वन संरक्षण कानून से स्पष्ट होता है कि प्रदूषण से प्रभावित होने वाले नागरिक को निर्णय प्रक्रिया में भागीदार नहीं बनाया गया है। भोपाल गैस त्रासदी इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

3. **न्यायिक प्रयास** (Judicial Attempt)—यह प्रसन्नता का विषय है कि पिछले 10-15 वर्षों के दौरान देश में पर्यावरण के प्रति चिन्ता काफी बढ़ी है। इस चिन्ता ने मानवीय स्वरूप भी ग्रहण किया है और अदालती दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया है। जैसे रतनाम नगरपालिका क्षेत्र बनाम वर्धीचन्द मामले में उच्चतम न्यायालय ने नगरपालिका को पर्यावरण संरक्षण के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए उसे आदेश दिया कि वह नागरिकों की शिकायतों को दूर करने के लिए छह माह के भीतर योजना का प्रारूप तैयार करे। इस फैसले के आधार पर अनेक निचली अदालतों ने अन्य नगरपालिकाओं को भी इस तरह के आदेश दिये। दिल्ली उच्च न्यायालय ने यमुना को प्रदूषित करने सम्बन्धी याचिका पर दिये गये दिल्ली नगर निगम और दूसरी इकाइयों को बेहद लापरवाही बरतने के लिए दोषी ठहराया। पर्यावरण के प्रति बढ़ी हुई चिन्ता का आयाम इस सम्बन्ध में चलाये जा रहे जनहित मुकदमे हैं जिनके अन्तर्गत सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए अदालत के दरवाजे खटखटाये गये हैं और अनेक महत्वपूर्ण निर्णय भी लिये गये हैं। उदाहरणार्थ दून घाटी के खनन उद्योग को बन्द करके घाटी के पर्यावरण को सुरक्षित रखने पर उच्चतम न्यायालय ने फैसला सुना दिया है। एक अन्य मामले में उच्चतम न्यायालय ने राज्य सरकार को निर्देश दिया है कि वह मन्दसौर के स्लेट-पेंसिल कारखानों के

1. T. N. Khosho : *Environmental Priorities in India and Substainable Development, Presidential Address,* 73rd secession, Indian Science Congress Association, New Delhi, 1986.

प्रबन्धकों को धूल-नियन्त्रण साधन लगाने के लिए कहे, और न लगाने पर उनका लाइसेन्स रद्द करे। इसी प्रकार अन्य मुकदमे भी निर्णय के इन्तजार में हैं। हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने दिल्ली सरकार को प्रदूषित कारखाने को बन्द करने का ऐतिहासिक फैसला दिया है। परन्तु जनहित के लिए पर्यावरण सम्बन्धी मुकदमों की सफलता की अपनी सीमाएँ हैं। प्रथम, हमारी न्याय-प्रक्रिया में अन्तर्हित विलम्ब और द्वितीय निर्णयों के पश्चात् उनके क्रियान्वयन हेतु अनिवार्य मशीनरी का अभाव बड़ी बाधाएँ हैं। इस सम्बन्ध में 1989 का पर्यावरण संरक्षण अधिनियम इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास है परन्तु उसके अन्तर्गत स्थापित की जाने वाली केन्द्रीय संस्था का कोई चिह्न दिखायी नहीं देता। उसके अभाव में अधिनियम के अन्तर्गत बनाये गये नियम मात्र निर्देश ही रह जाते हैं। प्रशासकीय स्तर पर तकनीकी जानकारी, विशेषज्ञता और एकरूपता का अभाव पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी नियमों और विधियों के प्रभावी क्रियान्वयन में अन्य बाधाएँ हैं। भारतीय सन्दर्भ में प्रतिवेदकों को एक तरह तो उद्योगों के मालिकों और प्रबन्धकों से संघर्ष करना पड़ता है, वहीं दूसरी तरफ सरकारी विभागों और प्रशासकीय प्रबन्धों के तर्कों का भी सामना करना पड़ता है जबकि पश्चिमी देशों में पर्यावरण सम्बन्धी मुकदमों का लक्ष्य सरकार भी उतनी ही है, जितना प्रदूषण फैलाने वाले निजी उद्योग। यही कारण है कि अमरीका जैसे विकसित देशों में पर्यावरण नीति सम्बन्धी व्यापक अधिनियम बनाये जाते हैं।[1] अतः समस्या की गम्भीरता को देखते हुए भारत में शीघ्र न्याय हेतु विशेष पर्यावरण अदालतें स्थापित करने की आवश्यकता है।

4. **प्रशासनिक ढाँचा** (Administrative Structure)—स्वतन्त्रता के बाद पर्यावरण की बिगड़ती स्थिति को रोकने और पारिस्थितिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए तात्कालिक बचाव कार्यों की आवश्यकता महसूस की गयी। इसी के अनुरूप पर्यावरण प्रबन्ध को राष्ट्रीय विकास का प्रमुख मार्गदर्शक तत्व मानते हुए इस क्षेत्र में उन्नत वैज्ञानिक, तकनीकी, प्रशासनिक और सहयोग के द्वारा सरकारी भागीदारी को, केन्द्र और राज्य स्तर पर, विकसित और सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में कुछ प्रशासनिक प्रयास किये गये हैं जिनके अन्तर्गत विभागों, मण्डलों आदि की स्थापना है। इस दिशा में सर्वप्रथम, प्रयास पीताम्बर पन्त की अध्यक्षता में मानव पर्यावरण पर समिति की स्थापना की गयी। इसने पर्यावरण नीतियों और कार्यक्रमों में अधिक समन्वय हेतु एक विधिवत प्रणाली की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित किया। अत: 1970 में पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं का एकीकृत हाल खोजने के लिए पर्यावरण से सम्बन्धित विभाग अथवा मन्त्रालय और विशेषज्ञों की राय प्राप्त करने की दिशा में प्रयास आरम्भ हुआ और 1972 में एक पर्यावरण आयोजन व समन्वय समिति (National Committee on Environment Planning and Coordination) का गठन किया गया। इस समिति के सुझाव पर अनेक राज्यों तथा केन्द्र-शासित प्रदेशों में पर्यावरण मण्डल स्थापित किये गये। किन्तु इस दिशा में देश में पर्यावरण सुधार के प्रति कोई व्यापक और समन्वित दृष्टि विकसित नहीं की जा सकी। 1980 के आम चुनावों में पर्यावरण सुरक्षा का विषय प्रायः सभी प्रमुख राजनीतिक दलों की घोषणा-पत्रों में सम्मिलित था। अतः पर्यावरण सम्बन्धी कार्यक्रमों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए 1980 में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति को विभिन्न कानूनों तथा पर्यावरण को बढ़ावा देने वाले प्रशासनिक तन्त्र की विवेचना करने तथा उन्हें सुदृढ़ बनाने हेतु सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। यह तिवारी समिति के नाम से

1. सुषमा यादव एवं रामअवतार शर्मा : *वही*, पृ. 274-275।

जानी जाती है। समिति ने अलग पर्यावरण विभाग स्थापित करने की सिफारिश की, फलस्वरूप 1980 में पर्यावरण विभाग की स्थापना की गयी। इसके कार्य पर्यावरण रक्षा, पर्यावरण विकास और विकास योजनाओं में पर्यावरण के पक्ष का ध्यान रखना था। विभाग को प्रशासकीय उत्तरदायित्व भी दिये गये जिससे वह प्रदूषण को रोक सके, समुद्र के पर्यावरण की तथा अन्य नाजुक क्षेत्रों जैसे बायोस्फीयर रिजर्व आदि की रक्षा कर सके।

भारत में उपरोक्त प्रयासों के बावजूद पर्यावरण की समस्या बनी हुई है। इस दिशा में और प्रयासों की आवश्यकता है। लोगों को पर्यावरण के प्रति जागरूक करने की आवश्यकता है। साथ में जनता को शिक्षित करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या को रोकने के सार्थक प्रयास तथा अति औद्योगीकरण की दिशा में सोच-समझ कर निर्णय लेना। चूँकि यह समस्या मानवकृत है अतः हमें ही इसका समाधान ढूँढ़ना होगा।